Chapter-4

" चतुर्थ अध्याय "

" नाट्य शिल्प और वैयक्तिक चेतना "

आमुख :-

भारतीय नाटक विधा उतनी ही प्राचीन है जितना यह देश। भारत और ग्रीक जैसे प्राचीनतम राष्ट्र का इतिहास वहाँ के रंगमंच से भली-भाँति जाना जा सकता है। एक विद्वान के शब्दों में -"देश का इतिहास इन्हीं से बनता और बिगड़ता है। देश का यथार्थ इन्हीं से पैदा होता है, और इन्हीं में छिप जाता है। आदि मानव से आज के मानव तक की सच्ची कहानी रंगमंच की जुबानी ही प्रस्तुत की जा सकती है।"[1] जब आदि मानव ने प्रकृति के मंगलकारी रूप को निरख प्रसन्नता की अभिव्यक्ति की और कभी उसके रौद्र रूप को देवता का क्रोध समझ उसकी उपासना की, तब नृत्य संगीत का जीवन अस्तित्व में आया और मिथकों का जन्म हुआ। मिथकों से लोक-कथाओं, तदन्दर रंगमंच का जन्म हुआ।

पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि साहित्य की अन्य विधाओं में से नाटक ही ऐसी विधा है जो प्राचीन काल से व्यक्ति के भावों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनी हुई है। ब्रह्मा ने चारों वेदों से सार तत्व ग्रहण कर नाट्य शास्त्र की रचना की। जिसे 'पंचम वेद' का नाम दिया जो शूद्रों के लिए भी ग्राह्य था। इसमें धर्म, अर्थ, काम आदि के साथ साथ शान्ति, श्रम, युद्ध वध, उत्सव आदि का भी चित्रण किया गया है। शारदातनय ने इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है -

> तुष्यन्ति तरूणा: कामे विदग्धा: समयाश्रिते।
> अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिण: ॥

1- रंगमंच की भूमिका और हिन्दी नाटक - डा० रघुवरदयाल वार्ष्णेय - "भूमिका से"

शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ।।

मानव स्वभाव सदैव "अति के प्रति विद्रोहात्मक रहा है । व्यक्ति स्वयं नियम बंधन बनाता है औरस्वयं ही तोड़ता है । एक रसता उसे अधिक समय तक रास नहीं आती । कतिपय नाट्य आलोचकों का मत है कि नाट्य विधा ब्राह्मण वर्ग के वर्चस्व के विरूद्ध पनप रही थी इसीलिए उसमें विदूषक नाम पात्र की कल्पना करके ब्राह्मण वर्ग को उपहास की सामग्री के रूप में प्रयोग किया गया है । किन्तु यह तथ्य निराधार है । यह सत्य है कि "विदूषक" ब्राह्मण ही बनता है जो अपनी वेष भूषा, क्रिया-कलापों व संवादों द्वारा सामाजिकों का मनोरंजन करता है लेकिन इसके साथ-साथ वह राजा का प्रिय पात्र, मित्र, सलाहकार, बन्धु भीहोता है , जो राजा के साथ साये की तरह रहता है और विपत्ति में सहायक सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में विभिन्न वर्णों के पात्रों द्वारा विभिन्न भाषाओं के संवाद बुलवाये जाना - जैसे उच्च वर्ग के पात्रों द्वारा संस्कृत और निम्न वर्ग के पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग करना तथा नाटक के नायक का उच्च वर्गीय अथवा कुलीन होना - आदि तथ्य इस वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हैं कि "नाटक" ब्राह्मण वर्ग की सत्ता सम्पन्नता को चुनौती नहीं दे रहा था और न ही उनको हास्यास्पद रूप में उपस्थित कर उस वर्ग को अपमानित कर रहा था अपितु वह तो समाज के चतुवर्ण का स्वस्थ मनोरंजन करते के साथ मार्ग दर्शन भी कर रहा था ।

संस्कृत काल में नाट्य साहित्य अपने उत्कर्ष रूप को प्राप्त कर चुका था । तद्युगीन नाटककार भरत-मुनि के नियमों व आदेशों का

पालन कर रहे थे । विदूषक की परिकल्पना, स्त्री पात्र की अनिवार्यता उत्सव, प्रेम आदि का चित्रण, कल्पना आदर्शयुक्त कथानक दैविक पात्रों का अभिनंदन, नाटक के प्रारम्भ में मंगलाचरण और अंत में भरतवाक्यम्- आदि नियमों का कठोरता से निर्वाह किया जा रहा था । लेकिन तभी राख में दबी चिनगारी के समान "वैयक्तिक-चेतना" मुखर हुई । नाटककार नियमों से घुटे वातावरण से बाहर निकल उन्मुक्त आकाश में विचरने को तत्पर हो गया । विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" ऐसा नाटक है जिसमें परम्परानुसार न तो कोई विदूषक है और न ही कोई स्त्री पात्र । "इसकी कथावस्तु राजनीति क्षेत्र में यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती है, जिसमें "हृदय की कोमलता, रोमांस, धार्मिक प्रतिबन्धों के प्रति आदर की भावना आदि के लिए कोई स्थान नहीं है । राजनीति के क्षेत्र में जिस हृदयहीनता, कठोरता का परिचय मिलता है, मुद्राराक्षस उसका जीवन्त उदाहरण है ।"[1]

इस प्रकार संस्कृत काल में ही नाटक साहित्य नई करवट लेने लगा था किन्तु बाद में विदेशी आक्रमणों के कारण संस्कृत नाट्य श्रृंखला टूट गई । इसके स्थान पर लोक नाट्य - जैसे नौटंकी, रासलीला, रामलीला, स्वांग तथा अन्य व्यावसायिक मण्डलियों ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया । इन सब के साथ-साथ पारसी रंगमंच ने अपना प्रभाव जमाना शुरू किया और उसकी चमक दमक भारतीय जनता पर ऐसी पड़ी कि भारत के मर्यादा पुरूषोत्तम राम और विश्वमित्र जैसे तपस्वी चरित् भी रंगमंच में कमर पर हाथ रखकर नाचते नजर आये । इसप्रकार के व्यावसायिक रंगमंच ने नाट्य श्रृंखला को बढ़ाने के स्थान पर लोगों की कुरूचि को ही बढ़ावा दिया ।

1- हिन्दी नाटक - बच्चन सिंह - पृ0-21

तत्पश्चात् भारतेन्दु काल में नाट्य धारा पुनः प्रस्फुटित हुई । यही वह युग है जहाँ से हिन्दी नाट्य गंगा अपने पूरे उत्साह व उमंग के साथ अपनी विकास यात्रा की ओर अग्रसर हुई थी । इस काल में पाश्चात्य प्रभाव के परिणाम स्वरूप इस विधा में क्रान्ति कारी परिवर्तन आये । जिन्होंने शनैः शनैः उग्र रूप धारण कर हिन्दी नाटक को आज वह रूप और अभिव्यक्ति दी है, जहाँ वह सशक्त विधा के रूप में अपने को स्थापित ही नहीं अपितु समर्थ भी सिद्ध कर रहा है । हिन्दी नाटक का रंगमंच जो अब नये कलेवर से सुसज्जित होकर निरन्तर आगे ही बढ़ता जा रहा है ,जब पीछे मुड़कर अपनी यात्रा के पड़ाव को देखता है तो उसे स्पष्टतः चार मुख्य स्थल दृष्टिगोचर होते हैं जिन्होंने उसकी विकास यात्रा में अब तक महत्वपूर्ण योगदान दिया है । ये हैं - भारतेन्दु युग, {लक्ष्मीनारायण} मिश्र युग , स्वातंत्र्योत्तर युग और साठोत्तर युग । प्रस्तुत अध्याय में रंगमंच की इस विकास यात्रा का वैयक्तिक चेतना के परिपेक्ष्य में रंगमंच, अभिनय और लेखन की दृष्टि से विवेचन करेंगे । आधुनिक रंगमंच के विकास में वैयक्तिक- चेतना ने क्या भूमिका निभाई और अब किस रूप में रंगमंच पर आभासित हो रही हैं इसका विश्लेषण किया जायेगा ।

रंगमंच

रंगमंच और नाटक का अटूटसंबंध है । दार्शनिक शब्दों में कहें तो - नाटक यदि आत्मा है तो रंगमंच उसका शरीर । नाटक विधा में रंगमंच ही ऐसा तत्व है जो उसे मूर्त्त-अमूर्त्त और दृश्य-श्रव्य का मणिकांचन संयोग प्रदान करता हुआ उसे साहित्य की अन्य विधाओं से श्रेष्ठ सिद्ध करता है । रंगशाला में बैठा प्रेक्षक अपने भोगे हुए अनुभवों के उतार चढ़ाव को अनुभव करता हुआ ब्रह्मसहोदर आनन्द की अनुभूति करता है ।

वेदकालीन भारत में रंगमंचीय परम्परा अपने चर्मोत्कर्ष पर थी । भरत-मुनि ने "नाट्यशास्त्र" में नाटक के विभिन्न अंगों और रंगमंचीय कलाओं का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है । चूंकि नाटक पंचम-वेद के नाम से अभिनीत था इसलिए इसके साथ कई धार्मिक क्रियाएं व आडम्बर जुड़ गये । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "अनाम दास का पोथा" उपन्यास में इन आडम्बरों का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है -"रंगमंच का निर्माण बड़े आडम्बर के साथ हुआ । हजारों कर्म कर उसमें लगाये गये । उन दिनों रंगमंच का निर्माण बड़ी सावधानी के साथ किया जाता था । भूमि निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से संभाला जाता था । ------ तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था । और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि काषाय वस्त्र धारी हीन वपु या विकलांग पुरूष मंडन स्थापन के समय अचानक आकर अशुभ फल उत्पन्न न कर दे । खंभा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी । खंभा हिल गया, खिसक गया या कांप गया तो अनेक प्रकार के उपक्रमों उपद्रवों की संभावना मानी जाती थी । रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भाव-जोखी का डर लगा रहता था । पद-पद पर प्रायश्चित और ब्राह्मण भोजन की आवश्यकता पड़ती थी ।[1] अभिनेताओं को रंग और वर्ण के आधार पर भूमिका देते और उनकी वेशभूषा पर भी आवश्यक ध्यान दिया जाता था । तथा रंग से पुते हुए चेहरे के माध्यम से विभिन्न भावों को व्यक्त किया जाता था - जैसे - सफेद पुता चेहरा - बदमाश का , लाल- ईमानदारी का, सुनहरी चेहरा - देवी पुरूष तथा विभिन्न रंगों की रेखाओं से रंजित चेहरा चोर का

संकेत करता था । रंगमंचीयउपकरणों के अभाव में कुशल अभिनेता को मूक अभिनय द्वारा ही काम चलाया जाता था । जैसे पौधे सींचने की प्रक्रिया की अनुकृति, राजा के रथ पर सवार होना या व्यक्ति का कुंये या गहराई आदि में गिरने की प्रक्रिया का अनुकरण मात्र होता । किन्तु व्यक्ति की निरन्तर विकास शील प्रवृत्ति ने रंग मंच को नया कलेवर प्रदान किया । देवत्व को प्राप्त राम और कृष्ण जैसे नायक को साधारण मानव बनाकर प्रस्तुत किया।

लगभग 19वीं शताब्दी में नाटक को आम जनता से जोड़ने का आन्दोलन पश्चिम देशों में जोरों से चल रहा था । चर्च व पादरियों के संरक्षण के कारण नाटक में जो धर्मान्धता आ गई थी जिसके कारण वह रूढ़ हो चला था, उसे रूढ़मुक्त करने का संघर्ष हो रहा था । जागरूक साहित्यकार दास्तोवस्की, बालजाक, मोपासा, बोदलेयर,गोनकार्ट बन्धुओं , टालस्टाय और इब्सेन आदि ने साहित्य को नई चेतना प्रदान की । नार्वे इब्सेन ने अपने नाटकों के माध्यम से अविश्वसनीय, अति भावुकता कपोल कल्पित कथावस्तु के स्थान पर यथार्थवादी चेतना को प्रस्तुत किया । जिसका अनुकरण पश्चिम देशों के अन्य नाटककारों ने किया । इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के रंगमंच में आम व्यक्ति की अभिव्यक्ति पर जोर दिया गया जिसके मूल में नवीन चिन्तन व वैज्ञानिकता से विकसित हो रही "वैयक्तिक-चेतना" ही है । जिसने यथार्थ की भूमि और साधारण मानव से दूर होते नाटककार को जागृत किया ।

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि अंग्रेज़ों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण विकसित हो रही "वैयक्तिक चेतना" के परिणमस्वरूप

सुरुचिपूर्ण ,जागरूक साहित्य का सृजन हो रहा था । पारसी रंगमंच के विरोध में भारतेन्दु युग में अव्यवसायिक रंगमंच की अवतारणा हुई और फिर भी यह रंगमंच अपने को पारसी रंगमंच के लटके झटके से पूर्णत: मुक्त नहीं कर पाया था । इसलिए तद्‌युगीन जागरूक नाटककारों ने इस अव्यवस्था के प्रति अत्यधिक आक्रोश था - भारतेन्दु ने कहा - "वेश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिये । यदि भृत्य पात्र प्रवेश करे तो जैसे बहुमूल्य परिच्छद अस्वाभाविक है वैसे ही पंडितों के संभाषण की भांति विशष संस्कृत गर्भित भाषा भी उसके लिए अस्वाभाविकी है ।"[1]

भारतेन्दु युग में रंगमंच में जो परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे उनके मूल में पश्चिम में चल रहे आन्दोलनों का प्रभाव था । हेनरी इब्सेन ने "डाल्स हाउस" "दगोस्ट" "द वाइल्ड डक" आदि नाटकों में बुद्धिवाद तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन की स्थापना कर नाटक जगत में हलचल मचा दी । परिणामत: कृत्रिमता के प्रति स्वाभाविकता तथा रूढ़िबद्ध मान्यताओं के विरोध की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी । नाटक कार "वैयक्तिक चेतना" के आधार पर आम व्यक्ति की अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हुआ। रंगमंच पर अतिरिक्त रंग सज्जा और परिधानों को व्यर्थ घोषित कर प्रतीक वादी मंच का प्रचलन बढ़ने लगा । दृश्य विधान कलात्मक होते चले गये । एक लैंप पोस्ट कुये के आदि के माध्यम से सड़क या गांव का बोध कराया जाने लगा ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में रंगमंच ने आश्चर्य जनक प्रगति की है जिसमें विज्ञान के निरन्तर बढ़ते विकास का महत्वपूर्ण हाथ है । जो रंगमंच को ~~स्वरूप~~ नित नवीन आयाम प्रदान कर रहा है । इसने रंगमंच के स्वरूप और शिल्प, रंग दीपन, ध्वनि संकेतों आदि में अभूतपूर्व

परिवर्तन किया है । विज्ञान के विकास में रंग अभियान्त्रिकी (स्टेज इजीनियरिंग) का प्रवेश हुआ जिसके माध्यम से मंच को घुमाना, ऊपर उठाना या गहराई देना तथा रहट की भाँति घुमाना आदि सम्भव हो सका है । परिक्रामी रंगमंच का सर्वप्रथम प्रयोग लखनऊ में अमृत लाल नागर कृत नाटक "परिवर्तन" को प्रस्तुत करते समय (1953) में किया गया था ।

कुछ ऐसे भी रंगमंच का प्रयोग हुआ जिसमें रंगमंच के बदले प्रेक्षागृह ही घुमता है । "इन सबका उद्देश्य यही है कि जनता और रंगमंच का अधिक सम्पर्क हो और जनता उसमें अधिक भाग ले ।"[1] ध्वनि रिकार्डों तथा टेप रिकार्डरों के अविष्कार से पहले कुछ गिनी चुनी ध्वनियाँ यथा मेघ गर्जन, रेलगाड़ी के चलने या भाप छोड़ने, घोड़े की टापों आदि की ध्वनियों का ही कृत्रिम साधनों जैसे थंडर कार्ट, रेन बाक्स मजबूत सन्दूक पर जस्ते की चार कील से जुड़ाकर उसपर रोलर चलाने, कंकड़ों पर लोहे या रबल के पहियों वाली गाड़ी चलाने और नारियाल के दो खोपड़ों के परस्पर बजाने आदि द्वारा ध्वनित की जाती थी किन्तु आधुनिक मंच पर अब ध्वनि रिकार्ड और टेप रिकार्ड द्वारा बच्चे के रोने, कुत्ते के भौंकने, विमान के उड़ने, तोप के गड़गड़ाने सिंह की गर्जन आदि ध्वनियों को सरलता व सहजता से सुनाया जा सकता है । इसी प्रकार विद्युत के अविष्कार ने रंगदीपन के माध्यम से रंगमंच को दो भागों में बाँटकर प्रस्तुत करने की सुविधा के साथ साथ बादल में नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, वृष्टि, अग्नि काण्ड आदि दृश्यों को सहजता से चित्रित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

5==

1- भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच - पं० सीताराम चतुर्वेदी-प०-587

आधुनिक यथार्थवादी यांत्रिक युग में मंचीय रंग सज्जा भी यांत्रिक अर्थात् प्रतीकवादी हो गई है । नाटककार मंच पर लम्बे संवादों अथवा पात्रों द्वारा पात्रों की स्थिति और चरित्र को अभि-व्यक्त न करके केवल छोटे से प्रतीक के माध्यम से उसे बखूबी स्पष्ट कर देता है । एक लैम्प पोस्ट - सड़क का, कुआ- गांव का प्रतीक बनकर उभरता है । "आधे-अधूरे" नाटक में "टूटा टीसैट" टूटी कुर्सियां, फटी किताबें आदि परिवार की आर्थिक तंगी के साथ साथ पात्रों की मनस्थिति , तिक्ता व अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति को अभिव्यक्त करती हैं । "चारपाई" {रामेश्वर} में गन्दे कपड़ों का गट्ठर, टूटी सूखी टहनियां, ठूंठ आदि प्रतीक आधुनिक जीवन की विसंगतियों, जटिलताओं तथा नीरस होते जा रहे पारिवारिक रिश्तों को निसंकोच उघाड देते हैं । "तीसरा हाथी" {रमेश बक्षी} नाटक में "बंजर" की ध्वनि पिता के अत्याचारों को कुरेद देती है । "कथा एक कंस की" {दया प्रकाश सिन्हा} नाटक में जनता की चेतना की प्रतीक "बांसुरी की धुन" कंस जो अत्याचारी सत्ता का द्योतक है की नींद छीनकर उसे धराशायी कर देती है । इसीप्रकार "राम की लड़ाई" {डा० लाल} नाटक में उपस्थिति शिव धनुष भारतीय एकता, भाई-चारे और आदर्श के रूप में वर्णित हुआ है । {ज्ञानदेव अग्निहोत्री} कृत नाटक "शुतरमुर्ग" में शुतुरमुर्गीय सिंहासन विलासितापूर्ण राजनीति और सत्ता का प्रतीक बन गया है । इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक का रंगमंच अपने प्रतीक विधान द्वारा उन भावों की सटीक अभिव्यक्ति प्रदान कर देता है जिसे संवादों और अभिनय के माध्यम से सही रूप में प्रस्तुत कठिनाई तो है ही, साथ ही नाटक का सौन्दर्य भी नष्ट होने का अंदेशा भी हो ।

अभिनय

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि नाटक और रंगमंच का

HANSA MEHTA LIBRARY

अटूट संबंध है । रंगमंच के माध्यम से ही नाटक दृश्य काव्य की संज्ञा को प्राप्त करता है और रंगमंच में "अभिनय" ही ऐसा तत्व है जो नाटक को मूर्त्तता प्रदान करता है । इस प्रकार नाटक रंगमंच और अभिनय के द्वारा ही अपनी सफलता प्राप्त करता है अर्थात् श्रेष्ठ नाटक वही माना जा सकता है जिसमें अभिनय क्षमता हो अन्यथा कहानी या उपन्यास से वह क्या भिन्न हो सकता है ?

नाट्य शास्त्रियों ने अभिनय को चार रूपों में स्वीकारा है - §1§ आंगिक §2§ वाचिक §3§ अहार्य §4§ सात्विक । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान "सामान्यभिनय" तथा "चित्राभिनय" इन दो को भी स्वीकार करते है । आंगिक अभिनय के अन्तर्गत - अंगों, यथा- शिर, नेत्र, भ्रू, अधर, कपोल, ग्रीवा, भुजा, चरणादि का प्रयोग किया जाता है । क्योंकि शरीर के विविध अंग ही इस अभिनय के हेतु हैं, इसलिए इसे "आंगिक अभिनय" कहा जाता है ।

आंगिक अभिनय के साथ साथ संवादि का यथा नियम सम्यक् उच्चारण ही "वाचिक अभिनय" कहलाता है । इस अभिनय में -स्वरों, छंदों, यति, विराम तथा काकु का ज्ञान अपेक्षित है और अभिनेता का शुद्ध, संस्वर उच्चारण होना आवश्यक भी । प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, उपदेश, संदेश आदि वाचिक अभिनय के रूप हैं और इसे आकाशभाष, स्वप्नादि द्वारा मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है ।

मंचीय सज्जा, दृश्य विधान, पात्रों की वेश भूषा आदि "आहार्य अभिनय" के ही प्रतिपाद्य हैं । भारतेन्दु ने - "वेषभूषणादि निष्पाद्य को आहार्यभिनय माना है ।"[1] आहार्य अभिनय के चार

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली - ब्रज रत्न दास - पृ0-731 - खण्ड-1

रूप हैं - पुस्त, अलंकार, अंगरचना और सज्जीव । अर्थात् - पर्वत, यान, हाथी, घोड़े आदि का प्रतीक बनना, वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से अभिनय करना तथा वस्त्रादि के द्वारा दर्शक को वास्तविकता का सा बोध कराना ।

रोमांच, स्वर भंग, स्वेदाबुं, अश्रु इत्यादि से संयुक्त सात्त्विक अभिनय होता है । भारतेन्दु के अनुसार - स्तंभ, स्वेद, रोमांच, कंप और अश्रु प्रकृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्त्विक अभिनय हैं ।

इस प्रकार नाट्य चिन्तकों ने अभिनय को उक्त चार रूपों में वर्णित कर दिया ।

वेदकालीन भारत में नाटक के अन्य तत्वों की तरह "अभिनय" भी रूढ़ हो गया था । संस्कृत काल में नाटक को राजाश्रय मिलने के कारण वह आम व्यक्ति से दूर हो चला था । इसलिए नाटक में अभिनय व राजगरिमा युक्त और कृतित्रमता लिए हुये था । आम व्यक्ति से दूर आदर्श, कल्पना पूर्ण धीरोदात्त, धीर ललित नायक होने के कारण उनका अभिनय भी साधारणतया, सहजता को त्याग कर सीमित घेरे में निबद्ध हो गया था । मंच पर स्नान, चुम्बन, आलिंगन, शयन आदि के अभिनय का निषेध था । मंच पर आँगिक "अभिनय की प्रधानता थी । यह परिपाटी लम्बी अवधि तक स्वीकार्य रही । धीरे-धीरे संस्कृत नाट्य परम्परा लुप्त होने पर व्यवसायिक नाट्य मण्डलियों के रूप में "पारसी रंगमंच" का उदय अभिनय की दृष्टि से और भी अधिक कष्टप्रद था ।

भारतेन्दु युग से पूर्व पारसी रंगमंच का बोलबाला था । इन मंडलियों में जनता को आकर्षित करने के लिए चमकीले - भड़कीले वस्त्रों

से सुसज्जित पात्र से अभिनय के नाम पर उछलकूद, भौंडा नृत्य तथा कमर मटकाना ही अभिनय समझा जाता था । यहाँ तक कि राम, ब्रह्मा, नारदमुनि, इन्द्र सीता आदि दैविक पात्र भी भद्दे नृत्य और संवाद द्वारा जनता की मनोवृत्ति को कुत्सित बना रहे थे । किन्तु भारतेन्दु युग के जागरूक नाटककारों का इस ओर ध्यान गया और उन्होंने इन पारसी रंगमण्डलियों की आलोचना की ।

जैसाकि पूर्ववर्ती पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है कि पाश्चात्य यथार्थवादी आन्दोलन का प्रभाव भारतीय नाट्य साहित्य पर भी पड़ा उसी के परिणामस्वरूप भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस उछलकूद और कृत्रिमता पूर्ण अभिनय से असन्तुष्ट हो सहज स्वाभाविक अभिनय पर ध्यान दिया । राय देवीप्रसाद "पूर्ण" अपने नाटक चन्द्रकला की प्रस्तावना में कहते हैं --" पात्रों की बोल चाल सहज ध्वनि के साथ होनी चाहिये जिससे उसका कोई अंश कृत्रिम न प्रतीत होने पावे । धीरे बोलना, स्वगत बोलना, क्रोध, मोह, विह्लता वा प्रेम से बोलना वा वार्ता को किसी अन्य मनोवेग से गर्भित करना इत्यादि क्रियाएं उसी पात्र से ठीक बनेगा जो प्रसंग को ध्यान में रखकर और तल्लीन होकर उचित भाव का नाट्य करना अभीष्ट जानेगा ।"[1] भारतेन्दु युग में हाथ-पैर आदि के अभिनय पर अधिक बल न देकर भावात्मक अभिनय मुख के भाव, नेत्र और भ्रू आदि पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा । जिससे दर्शक यह अनुभव कर सके कि पात्र नाटकीय नहीं अपितु उन्हीं के बीच का व्यक्ति है और साधारण व्यक्ति की कहानी को देखा है , जो उनके आस पास की दुनियाँ की ही कहानी है । इसप्रकार

1- उद्धृत - भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच -पृ0-253

पश्चिमी यथार्थवादी आन्दोलन के परिणामस्वरूप नाटक कृत्रिमता व आडम्बर को त्याग "आम व्यक्ति से जुड़ने लगा । "गति,अभिनय वाणी और वेशभूषा सब स्वाभाविक होने लगे और यह प्रेरणा दी जाने लगी कि अभिनेता रंगमंच पर ठीक वैसा ही आचरण करे जैसा मूल पात्र इसी परिस्थिति में रखे जाने पर करते । इस अभिनय पद्धति में दर्शकों की अपेक्षा की गयी, कभी कभी दर्शकों की ओर से पीठ फेर कर भी अभिनय होने लगा मानो दर्शक उस रंगमंच पर प्रदर्शित प्रकोष्ठ की अदृश्य चौथी दीवार में से झांक रहे हों " ≬ भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच - पं0 सीताराम चतुर्वेदी - पृ0-182≬

भारतेन्दु युग में अभिनय में नई दृष्टि झलकने लगी थी किन्तु उस समय का रंगमंच पारसी रंगमंच के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया था जिसका कारण जनता की रुचि का एकाएक परिवर्तन न होना था किन्तु "वैयक्तिक-चेतना" से प्रेरित आम आदमी से जुड़ने का नाटक मिश्र और अश्क के युग में अधिक सफलता से दृष्टिगोचर होने लगा । लक्ष्मी नारायण मिश्र, उपेन्द्र नाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, भगवती चरण वर्मा आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में साधारण आदमी की साधारण समस्याओं को केन्द्र बनाकर उनके बीच से गुजर रहे और समस्या के तनाव को झेल रहे साधारण व्यक्ति के अभिनय पर बल दिया । तथा इस अभिनय से जुड़ी शराब, स्नान, चुम्बन, आलिंगन ,शयन,भोजन आदि को मंच पर प्रस्तुत किया । इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के समस्या नाटक के इस युग में अभिनय का परिष्कृत स्वरूप उभर कर सामने आ रहा था यद्यपि इसमें थोड़ा भावुकता व रोमांस का समावेश था । मनोवैज्ञानिक समस्याओं के आधार पर बाह्य क्रियाशीलता के स्थान पर

आन्तरिक संघर्ष की प्रधानता थी । साधारण व्यक्ति प्रतिदिन जिन संघर्षों से गुजरते हुए स्वाभाविक, सुलभ क्रिया व्यापार का आचरण करता है वैसी सहज क्रियाएं ही अभिनीत की जाने लगी । वेदना या प्रसन्नता के क्षणों में न तो व्यक्ति उछलता, कूदता ना भावातिरेक में गीत गाता । वह "स्वगतोक्तियों में सहज रूप से अपने उद्गार व्यक्त करता । वेदना के क्षणों में मूक भाव से आकाश या खिड़की को देखने अथवा उच्छ्वासित अर्धवाक्यों का प्रयोग होने लगा । उदाहरणार्थ उपेन्द्र नाथ अश्क कृत "कैद" में वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट क्षय रोगी अप्पी और उसके पुराने प्रेमी दिलीप से वार्तालाप में स्पष्ट किया है -

दिलीप - कितने प्यारे बच्चे हैं । अप्पी, तुमने तो स्वर्ग बसा रखा है ।

अप्पी - (व्यंग्यमयी मुस्कान के साथ) स्वर्ग ।

दिलीप - (उठकर बैठते हुए अरमान भरे स्वर में)- आठ बरस बीत गये जब हमने भी एक बार ऐसा ही स्वर्ग बसाने का प्रण किया था ।

अप्पी - (वैसे ही अरमान भरे स्वर में) सदियों जैसे आठ बरस ----- ।"

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में साधारण व्यक्ति के दुख दर्द को स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है जिसमें नृत्य गीत आदि का स्थान नहीं के बराबर था । आधुनिक युग में अभिनय को और अधिक जीवन्त बनाने के लिए रेडियो, टैलीविज़न, टेप रिकार्ड आदि के प्रयोग का नया अध्याय जुड़ा । प्राचीन पद्धति "आकाश भाषा" को टैलीफोन के माध्यम से दर्शाने का नया रूप मिला ।

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वाधीनता के पश्चात् अनेक अन्तर-बाह्य कारणों से आम व्यक्ति का जीवन जटिलताओं, त्रासदियों तथा विडम्बनाओं से त्रस्त हो रहा है । इसीलिए आलोच्य कालीन नाटकों में इसी विडम्बनापूर्ण स्थिति को उजागर करने के लिए उजूल-फिजूल हरकतों से युक्त अभिनय पर जोर दिया जा रहा है । खण्ड-खण्ड जीवन जीते आधुनिक व्यक्ति को खण्ड खण्ड अभिनय द्वारा अभिव्यक्त किया जा रहा है । यह नई अभिनय पद्धति जितनी गहरी मार्मिकता व सजीवता से मानवीय विसंगतियों को उद्घाटित करती है उतना रूढ़ अभिनय और संवाद भी अभिव्यक्त कर पाने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते । आधे-अधूरे नाटक में लड़के अशोक का "कागज की कतरनें काटना" लहरों के राजहंस में" दर्पण का टूटना, तीसरा हाथी नाटक में शुभा को हिस्टिरया के दौरे पड़ना, मणि मधुकर कृत रस गन्धर्व में कैदियों का "बेकार सी" हरकतें करना, अमृत पुत्र में बूढ़े के "निरर्थक" वार्तालाप के साथ निरर्थक अभिनय, जीवन की सत्यता को सार्थकता के साथ उजागर करते हैं ।

"आधे-अधूरे" नाटक में छोटी लड़की किन्नी द्वारा लिखते हुए मंच को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पार करना - जीवन व रिश्तों के खोखलेपन को उदघाटित करता है तो "ठहरा हुआ पानी" नाटक में स्वेटर का उधेड़ा जाना - बिगड़ते रिश्तों व हताश जिन्दगी को चित्रित करता है ।

इसी प्रकार "चारपाई" नाटक में "बूढ़े पुरूष का बीड़ी जलाने के लिए माचिस घिसना, तम्बाकू विहीन बीड़ी को फेंकना - आदि अभिनय जीवन की कटुता, खालीपन को अभिव्यक्त करते हैं ।

आलोच्य कालीन नाटकों में एक ही व्यक्ति द्वारा तीन-चार पात्रों की भूमिका का निर्वाह करना जहाँ आधुनिक व्यक्ति के खंडित, अपूर्ण व्यक्तित्व को उजागर करता है वहीं अभिनय के क्षेत्र में नई चेतना का प्रतीक है । आधे -अधूरे (मोहन राकेश) , द्रौपदी (सुरेन्द्र वर्मा) वामाचार (रमेश बक्षी) उत्तर-उर्वशी) आदि नाटकों में विखण्डित पात्रों को खण्ड-खण्ड हुये जीवन के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कालीन नाटक अभिनय की दृष्टि से सूक्ष्मता की ओर बढ़ रहे हैं । आंगिक व वाचिक अभिनय के स्थान पर आहार्य अभिनय की प्रमुखता बढ़ रही है । संवाद तीक्ष्ण व लघु तथा मंचीय सज्जा व आन्तरिक भावों संयुक्त अभिनय व्यापक होते जा रहे हैं ।

शिल्पगत चेतना

नाट्य रूढ़ियों के प्रति :-

प्रत्येक देश का नाटक कुछ निश्चित रूढ़ियों में आबद्ध रहा है । इन नाट्य रूढ़ियों का नाटक के प्रारम्भ और अंत में पालन किया जाता है । इसके अन्तर्गत-मंगलाचरण , प्रस्तावना तथा भरतवाक्यम् आदि का विधान था । इनके अतिरिक्त सुखान्त और श्रृंगार या वीर रस प्रधान नाटकों का बाहुल्य था । नाटक में स्त्री-पात्र तथा विदूषक की उपस्थिति अनिवार्य थी । कथा वस्तु आदर्शयुक्त, काल्पनिक या इतिहासपरक या किसी देवी देवता अथवा महान् राजा की जीवनी पर आधारित होती थी । इन समस्त रूढ़ियों का संस्कृत नाट्य काल तक कठोरता से निर्वाह किया गया । इस काल के नाटकों की कथावस्तु

तो इतनी अधिक आदर्शवादी होती थी जिसमें यथार्थवाद को पनपने का अवसर नहीं दिया । इस आदर्श का निर्वाह करने में नाटककार चमत्कारों , अतिरंजना और दैविक घटनाओं का सहारा लेता था यहाँ तक कि भूत-प्रेतों और देवताओं को पृथ्वी पर बुला लेता ।इन नाटकों के पात्र सर्वगुण सम्पन्न दैविक पात्र होते थे । इसलिए साधारण व्यक्ति की पहुँच से बाहर रहते । इन सबके मूल में कारण यही जान पड़ता है कि नाटक राजदरबारों में राजा व उसके दरबारियों के मनोरंजन के लिए खेले जाते थे जिनका वास्तविक जीवन से दूर दूर तक कोई सम्बन्ध न था । नाटककार अपने आश्रयदाता को नाटक में आलौकिक पात्र के रूप में उतार आशीर्वचन से नाटक का प्रारम्भ करता और यशस् कामना के साथ अंत । इसीलिए इस काल में मंगलाचरण और भरतवाक्यम् नाटक के अनिवार्य तत्व थे ।

किन्तु भारतेन्दु काल में राजाओं के चंगुल से मुक्त खुले में सांस लेता नाटक पुन: जागृत हुआ । नाटक को किसी विशेष राजा का आश्रय प्राप्त नहीं था । इसलिए वे राज दरबारों की यशोगाथा न बनकर जन साधारण के मनोभावों की अभिव्यक्त का माध्यम बनने लगा । युगानुरूप चेतना तथा परिश्रमी प्रभाव के फलस्वरूप नाट्य रूढ़ियों में शिथिलता आने लगी । भारतेन्दु युगीन नाटककार आवश्यकतानुसार इन रूढ़ियों का पालन कर रहा था । जहाँ इनकी आवश्यकता न थी वहाँ निषेध मिलता है । जैसे - "नील देवी" नाटक में भारतेन्दु ने अप्सराओं द्वारा "धन-धन भारत की छत्रानी" और "सती प्रताप" नाटक में "जग में पतिव्रत सम नहिं आन" आदि गीतों द्वारा मंगलाचरण

की रस्म का निर्वाह किया है किन्तु इनके ही नाटक "अन्धेर नगरी" में इसका पालन नहीं किया गया है । श्री निवास दास कृत - तृप्ता संवरण तथा "संयोगिता स्वंयबर" बालकृष्ण भट्ट कृत - दयमन्ती स्वंयबर तथा राधाकृष्ण दास कृत महाराणा प्रताप आदि में मंगलाचरण परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होता है । साधारणत: इस युग के प्रहसनों जैसे - बूढ़े मुंह मुंहासे , दुखनि बाला, रणधीर मोहिनी आदि में मंगलाचरण परम्परा का निषेध मिलता है । इसीप्रकार भरतवाक्यम सुखान्त नाटकों में ही दृष्टिगत होता है - भारत दुर्दशा, नीलदेवी आदि दुखान्त नाटकों में नहीं । वैसे भी हम देखते हैं तद्युगीन नाटकों में भरतवाक्यम् में समाज सुधार और देशोद्धार की कामना प्रकट की गई है । इसप्रकार इस युग में नाट्य परम्पराओं के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगा था ।

कथावस्तु की दृष्टि से भी नवीनता झलकती है । पौराणिक, कल्पित व मिश्र कथावस्तु का प्रयोग तो हुआ है साथ ही समाज के "घोर यथार्थ" का चित्रण भी इस युग के नाटकों में चित्रित होता है । सामाजिक समस्याओं पर चिन्तन तथा कुरीतियों पर व्यंग्य इस समय के नाटकों की कथावस्तु बनने लगी । वास्तव में इस युग का नाटककार अपने नाटकों के माध्यम से भारतीय जनता की राष्ट्रीय चेतना को और तीव्र करना चाहता था । तथा उसे गली-सड़ी परम्पराओं व बाह्याडम्बरों से मुक्ति प्रदान कर विकासोन्मुख बनाना चाहता था । इसलिए इन नाटकों के पात्र जनता के बीच के ही होते थे । भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने नायक नायिका व विदूषक की परम्परा को तोड़कर एक और दरोगा, इन्सपेक्टर, शिक्षक , व्यापारी आदि

उच्च वर्गीय व्यक्तियों का चित्रण किया है तो दूसरी और गुण्डे, मारवाड़ियों, भ्रष्ट अधिकारियों का भी सफलतापूर्वक चित्रण किया है । इस प्रकार " चरित्र चित्रण की दिशा में भारतेन्दु युग के नाटक कारों की दृष्टि अधिक उदार ,गहरी और व्यापक थी ।"[1]

भारतेन्दु युग से प्रारम्भ हुई नाट्य रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना,बीसवीं शताब्दी में इब्सन द्वारा किये गये क्रान्तिकारी प्रयोगों से और अधिक उग्र होती गई । इब्सन की यथार्थवादी विचार धारा ने पश्चिमी रंगमंच को आलोड़ित तो किया ही साथ ही भारतीय रंगमंच को भी प्रभावित किया । बीसवीं शताब्दी के पहले दूसरे दशक में हिन्दी रंगमंच में "समस्या नाटक" के नाम से क्रान्तिकारी रंगमंच विकसित होने लगा । इस युग में नाट्य शिल्प की दृष्टि से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । नाटककार युग की पुकार को ध्यान में रखकर भरत मुनि के "नाट्य शास्त्र के जीर्ण-शीर्ण नियमों को त्यागकर नवीनता की ओर उन्मुख हुआ । उसकी प्रवृत्ति कल्पना व आदर्श का मोह त्याग कर यथार्थ चित्रण में रमने लगी । इसलिए नाटक की कथावस्तु में परिवर्तन आना आवश्यक हो गया । साधारण व्यक्ति की कहानी नाटकों की कथा वस्तु बनने लगी । अब नाटक विशेष व्यक्ति की विशेष घटना को लेकर नहीं लिखा जाता अपितु आम व्यक्ति की दैनिक दिनचर्या को व्यक्त करने लगा । कथावस्तु ऐसे पात्र को केन्द्रभूत करके चलती जिसके धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के रूढ़ अंधविश्वासपूर्ण तथा अति आदर्श के प्रति क्रान्तिकारी दृष्टिकोण हों । इस प्रकार नाटकों की कथावस्तु बनी बनाई लीक से हटकर तर्क वितर्क पर आधारित हो गयी । जिसमें युग सापेक्ष मूल्यों, विश्वासों तथा तथ्यों का

---

1. भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच - डा० वासुदेवनन्दन प्रसाद - पृ० - 220

समावेश हो । कथावस्तु में पंच संधियों, कार्यावस्थाओं आदि का बंधन टूटने लगा । और नाटकों में अंक, दृश्य विधान आदि मान्यताएं प्राचीन मान्यताओं से भिन्न हो गईं । प्राचीन नाटकों की अपेक्षा अंकों व दृश्यों की संख्या कम हो गई और कथानक कसाव लिए हुए होने लगा ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद घुटन, टूटन , अलगाव व तनाव का जो सैलाब उमड़ा है ,उसका मार्मिक चित्रण स्वातंत्र्योत्तर कालीन नाटकों में दृष्टिगोचर होता है । आधुनिक नाटककारों ने महानगरीय जीवन की विवशताओं, विषमताओं के बीच संघर्षरत व्यक्ति की कुंठाओं को अभिव्यक्त किया है । वे ऐसे व्यक्ति को प्रस्तुत करते हैं जो समाजिक रूढ़ियों व परम्पराओं की पीड़ा से त्रस्त ,स्व अस्तित्व को खोजने में संलग्न - तनावयुक्त है । मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल, रेवती सरन शर्मा, मन्नू भण्डारी, विष्णु प्रभाकर, ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि नाटककार इसी पीड़ा को अपने नाटकों में अभि-व्यक्ति दे रहे हैं ।

सन् 60 के बाद दो युद्धों की स्थिति से निरन्तर बढ़ती मंहगाई, वस्तुओं के अभाव, बेरोज़गारी ने मध्यमवर्गीय जीवन को खोखला कर दिया है । दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा, पाश्चात्य प्रभाव तथा फैशन परस्ती ने युवा पीढ़ी को अंधीदौड़ में सम्मिलित कर लिया है जिससे नगरीय जीवन और अधिक विषम हो गया है । राजनीति ने "व्यवहारिक चेतना" को बढ़ावा दिया है। साथ ही भ्रष्टाचार को व्यापकता प्रदान करने में और अधिक सहयोग दिया है । बढ़तीनारी स्वच्छंदता व नई पुरानी पीढ़ी के वैचारिक द्वंद्व को -

देवयानी का कहना है" और "तीसरा हाथी" द्रौपदी, न धर्म न ईमान, ओह अमेरिका, सादर आपका" आदि में व्यक्त किया है । आलोच्य कालीन नाटकों में काम कुंठा विशेष रूप से उद्घाटित है - तेन्दुआ, द्रौपदी, सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, नरमेध, आधे-अधूरे, तिलचट्टा, पहचान, सादर आपका आदि नाटकों में फ्रायडवादी मनोविज्ञान पर आधारित काम कुंठाओं को निस्संकोच साहसिक रूप से उद्घाटित किया है । चूंकि आधुनिक नाटककार आम व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष को अभिव्यक्त करने में ही अपनी लेखनी की सार्थकता समझ रहा है और "काम वृत्ति" एक स्वाभाविक आवश्यक वृति है - इसलिए नाटकार इस पक्ष को भी अछूता नहीं रखना चाहता । इसलिए उसकी लेखनी इस वृति की एकान्तता तथा गोपनीयता को भंग कर रही है ।

समकालीन नाटककार साधारण व्यक्ति के अस्तित्व के समक्ष "देवता" के अलौकिक व्यक्तित्व को नकार रहा है । इसलिए पौराणिक महापुरूष , और देवता-व्यक्ति के सामने अपना लेखा जोखा प्रस्तुत कर रहे हैं । नाटककार पौराणिक घटनाओं को तर्क के आधार पर आत्मसात् कर युगानुरूप बना रहा है । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में -"पौराणिक कथ्य को उन्होंने तर्क और विवेक की कसौटी पर कसा है । और जीवन को व्यापक रूपों और सन्दर्भों में अभिव्यक्त किया है । पौराणिक परिवेश के फलक पर उन्होंने आज के मानव का जीवन देखा है ।"[1] आलोच्यकालीन नाटकों में

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास- डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-पृ0-284

सामयिक युगीन व्यक्ति के बिखराव और विक्षिप्तता को दुर्बल मानव व प्रतीक द्वारा प्रतीकात्मक रूप में बखूबी उभारा जा रहा है । "तीन अपाहिज" लोटन, चारपाई पूर्ण विराम आदि नाटकों के पात्रों में इस तथ्य को देखा जा सकता है । नाटककार अपने पात्रों को जनसाधारण से जोड़ने के लिए उनके नामकरण को समाप्त कर अ,ब,स, स्त्री एक, दो पुरूष, वृद्ध, लाल पुरूष ,लड़का, लड़की आदि से परिचय देता है ,जिससे जनता अनुभव कर सके कि यह राम श्याम अन्य नाटकीय पात्र न होकर उन्हीं ने के बीच से उभरा व्यक्ति है । वस्तुत: यह प्रयोग पात्रों और दर्शकों की मन:स्थिति को समान बताने के उद्देश्य से ही किया है ।

आधुनिक व्यक्ति का जीवन अन्य अनेक विसंगतियों से भर गया है । उसकी जिन्दगी नीरस सी हो गई है । उसी नीरसता को नाटककार कथाहीन टुकड़ों में विभाजित , असंगत सी प्रतीत होती कथा वस्तु के माध्यम से व्यक्त कर रहा है । "रोशनी एक नदी" रस-गन्धर्व लोटन, आज नहीं तो कल , प्रजा ही रहने दो, दरिन्दे, उत्तर उर्वशी द्रौपदी, आदि नाटकों में अपने अपने दायरों में सिमटे, जीने की प्रक्रिया से गुजर रहे जीवन और अनुभवों का गहराई के साथ चित्रण किया गया है । अब कथावस्तु, संघर्षों व फलप्राप्ति के आरोह-अवरोह के बीच से नहीं गुजरती अपितु टुकड़ों व बिम्बों में बंट गयी है ।

आलोच्य कालीन नाटकों की कथावस्तु अधिकाधिक प्रतीकात्मक होती जा रही है । राजहंस, तेन्दुआ, तिलचट्टा, हाथी, कैक्टस आदि प्रतीक मानव की मनोदशाओं को सफलता से अभिव्यक्त कर रहे हैं । आधुनिक नाटकों में पौराणिक मिथकों एवं प्रतीकों के द्वारा समकालीन जीवन तथ्य को उदघाटित किया जा रहा है । इसमें डा० लाल

का नाम उल्लेखनीय है । उन्होंने तोता-मैना, सूर्यमुख, यक्ष प्रश्न, एक सत्य हरिश्चन्द्र ,मिस्टर अभिमन्यु आदि नाटकों में पौराणिक पात्रों व कथानकों से आम व्यक्ति के जीवन की विसंगतियों ,कुंठाओं व विद्रूपताओं को यथार्थ फलक पर उभारा है । डा० दयाशंकर शुक्ल के शब्दों में -"इस "मिथक" के परिपेक्ष्य के साथ वे आज के व्यक्ति , समाज और राजनीति की उन मूलभूत समस्याओं को नग्न रूप में ला खड़ा करने में सिद्धहस्त हैं जिनके माध्यम आज का संपूर्ण परिवेश पिसता हुआ मुक्ति की तलाश में दम तोड़ रहा है । इस दृष्टि से उनके नाटकों में पौराणिक संदर्भों द्वारा आधुनिक जीवन मूल्यों का प्रश्न बड़े ही ज्वलंत रूप में सामने आता है ।"[1] डा० लाल के अतिरिक्त बृजमोहन शाह कृत - त्रिशंकु , सुरेन्द्र वर्मा- सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण, जि०जे० हरिजीत - सम्भवामि युगे-युगे , भस्मासुर , एक और अभिमन्यु , पहला राजा आदि अन्य नाटकों में प्रतीकों के माध्यम से आधुनिक वैयक्तिक-चेतना को स्पष्ट किया गया है । साथ समकालीन युग में व्याप्त राजनैतिक भ्रष्टाचार, प्रशासनिक धाँधले बाजी,युवा पीढ़ी की दिशाहीनता तथा बुद्धिजीवी की तटस्थता को कथावस्तु बना रहा है ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कालीन नाटकों में परम्परागत नाट्य रूढ़ियों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण तो है लेकिन कुछ नाट्य रूढ़ियों को युगानुरूप परिवर्तित कर ग्रहण किया है । कथावस्तु तर्क व यथार्थ पर आधारित हो गई । आज का नाटककार

1- कृतिकार लक्ष्मी नारायण लाल - लेख -डा० दयाशंकर शुक्ल-पृ०-132 (सं० डा०रघुवंश)

अधिक जागरूक है । वह समाज को मोह भंग की स्थिति से उबारने को उद्यत है । इसीलिए स्व-अस्तित्व की रक्षा हेतु समाज से टक्कर ले रहा है । फलत: आदर्श पात्रों के स्थान पर यथार्थ वादी और भौतिक वादी चेतना से युक्त पात्रों का चित्रण किया जा रहा है ।

लेखन

"भाषा शैली और संवाद"

जब युग नाटक का कथ्य और शिल्प बदलता है तो उसके साथ संवाद की शैली और भाषा भी बदलती है । सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन और उस परिवर्तन के दबाव से बदलता साहित्य की "भाषा" में प्रयुक्त शब्द-अर्थ को नये आयाम प्रदान करता है । इसीलिए प्रत्येक सफल साहित्यकार देश ,काल की स्थिति के परिवर्तन और चिन्तन की सामग्री से अपनी भाषा की सर्जना करता है ।

प्रत्येक युग अपनी सामर्थ्य और सीमाओं के अनुसार नाटक की युगानुरूप भाषा का दुकूल पहना कर गया है । सत्य तो यह है कि वर्तमान युग में लिखे जा रहे प्रत्येक नाटक के लिए पिछले युग की भाषा का प्रयोग करना न्याय संगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि आने वाला युग नई जीवन दृष्टि, नया चिन्तन लेकर आता है । इसलिए नाटक कार को पुराने युग की भाषा रूढ़िगत एवं बासी प्रतीत होने लगती है । उसे नये नाटक की संरचना के लिए, संवेदनाओं व अभिव्यक्तियों की नव भाव भूमि निर्मित करने के लिए भाषा के पुराने ढांचे को तोड़ कर नये शब्द-अर्थों के प्रस्तर के माध्यम से भाषा का नया "किला"

बनाना पड़ता है । भारतेन्दु, प्रसाद, मिश्र, माथुर, भारती, लाल, राकेश, वर्मा व मधुकर आदि नाट्य भाषा के ऐसे "मील के पत्थर" हैं जहां पर भाषा अपना परिवर्तित स्वरूप, शब्दों के नये अर्थ, और रूढ़ियां पिष्टपेषित होते हुए भी भाषिक परिवर्तन की आकांक्षाएं लिए हुए है ।

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि संस्कृत नाटक अति आदर्श युक्त तथा जनता की पहुंच से बाहर थे । इसलिए उनकी कथावस्तु के अनुरूप भाषा भी धर्म, दर्शन व रूढ़िगत मान्यताओं से बोझिल हो गयी । वह काव्यात्मकता के गहरे जंगल में नाटकीयता खो बैठी थी । "उसमें विशिष्ट दार्शनिक उक्तियां हैं, भावी घटनाओं के सूचक व्यंग्यार्थ हैं, सूक्ति, आप्तवाक्य,संकलन और द्वयर्थकता है किन्तु नाटकीय आरोह अवरोह का प्राय: अभाव ही है । इसलिए पात्रों को अपनी भाषा नहीं मिल पायी जिससे स्वाभाविकता का विकास नहीं हो सका ।"[1]

वास्तव में हिन्दी नाट्य भाषा की खोज भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ हो जाती है । भारतेन्दु युग में अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों का प्रभाव साहित्य पर कम हो गया था । इस युग के नाटककारों ने सरल ,बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है । भाषा को परिमार्जित व सहज रूप देने के लिए मुहावरों और चलताऊ शब्दों का भी सुन्दर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । "माथे क्या सींग होती है" "चोर का माल बट मार लूटें" "जाके हित चोरी करो सोई बनावत चोर" आदि मुहावरों का प्रयोग हुआ है । सरल, सहज भाषा की यह मुक्त सरिता द्विवेदी युग में व्याकरणिक नियमों में निबद्ध हो

1- रंगमंच की भूमिका और हिन्दी नाटक - डा० रघुवर दयाल वार्ष्णेय- पृ०-209

गई । खड़ी बोली परिष्कृत, व्यंजनात्मक शक्ति से युक्त भाषा विकसित हुई । यह भाषा भी बोलचाल की भाषा को स्पर्श कर रही थी । लेकिन प्रसाद ने संस्कृत निष्ठ काव्यमयी शब्दावली को नाटक भाषा केरूप में प्रयुक्त कर नाट्य भाषा को नये आयाम दिये । उसे अभिजात्य का आवरण पहना कर साधारण बोल चाल की भाषा से दूर कर दिया । लेकिन पुन: यथार्थवाद के नाम पर साधारण बोल चाल की भाषा पर बल दिया जाने लगा जिसमें अश्क, मिश्र जैसे समर्थ नाटककारों ने आम व्यक्ति की सामाजिक समस्याओं को नाटक की कथावस्तु बनाकर सीधी, सहज भाषा को प्रयुक्त किया । इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक नाटक की भाषा अनेक उतार-चढ़ावों के बीच गुजरती हुई सीधी सपाट अन्तर्मुखी भाषा के रूप में विकसित हो रही है । "प्रयोग वाद के साथ ही संक्रान्ति की एक ऐसी स्थिति आई जब पुरानी भाषा अर्थहीन लगने लगी । स्वतंत्रता के बाद यह अहसास निरन्तर गहरा होता गया । बदली हुई परिस्थितियों में टूटते रिश्तों, विषादपूर्ण स्थितियों, मानव की अवमाननाओं और विघटित होते जीवन मूल्यों के सामने प्रचलन की भाषा एकदम फीकी और पुरानी पड़ गई । जीवन संदर्भों के बदलते ही उनके स्रोतों से नई भाषा और नये संवेदनों का जन्म हुआ । जीती जागती नाटकीय स्थितियों ने हिन्दी के नये नाटक को भी नई भाषा दी ।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में कथ्य ही नहीं बदलता अपितु नाट्य भाषा का स्वरूप और उपयोगिता भी बदलती जा रही है । प्राचीन नाटकों में भाषा व संवाद का कार्य कथावस्तु को आगे बढ़ाना अथवा

1- आधुनिक हिन्दी समस्या नाटक - डा० गोविन्द चातक -पृ0-96

पात्र के भावों को अभिव्यक्त करना था, किन्तु आधुनिक नाटकों में भाषा व संवाद के माध्यम से देश काल की स्थिति तथा पात्र की मन:स्थिति को भी उद्घाटित किया जाता है । आज का नाटक कार जिस भाषा का प्रयोग कर रहा है वह व्यक्ति की नई दृष्टि और नवीन नाट्य रूप विधा का परिणाम है । नाटक के केन्द्र में आज आत्मकेन्द्रित ,खण्डित ,दिशाहीन, संत्रस्त, संबंधहीन, केवल अपने तक सीमित ऐसा व्यक्ति है जिसकी कथनी करनी में अन्तर है । इसलिए नाटककार ने उसी व्यक्ति के अनुरूप भाषा देने का प्रयास किया है । इसीलिए आधुनिक नाटक की टूटी, असंगत, छल-छद्म पूर्ण भाषा है ।

आलोच्य कालीन नाटकों में अनेकानेक भाषिक प्रवृत्तियाँ दृष्टि गोचर हो रही है । एक ओर वे नाटक हैं जिनमें काव्य बिम्ब और प्रतीकों से भरपूर भाषा प्रयुक्त हुई है । इनमें रात-रानी {डा0लाल} लहरों के राजहंस {मोहन राकेश} सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण {सुरेन्द्र वर्मा} और आठवाँ सर्ग {सुरेन्द्र वर्मा} आदि नाटक महत्वपूर्ण हैं । दूसरी ओर संवेदन शून्य, सीधी सपाट भाषा है जिसमें कलंकी, नरसिंह कथा {डा0 लाल} पहला राजा { जगदीश चन्द्र माथुर} कथा एक कंस की {सुरेश सिन्हा} त्रिशंकु {ब्रजमोहन शाह } आधे-अधूरे {मोहन राकेश} आदि नाटक प्रमुख हैं । इनसे अतिरिक्त कुछ इसप्रकार के नाटक हैं जिनमें पारिवारिक रिश्तों की टूटन, घुटन, अलगाव से उत्पन्न आक्रोश से भरी तीखी, चुभती तथा मर्मभेदी भाषा का प्रयोग हुआ है । द्रौपदी {सुरेन्द्र वर्मा} एक और अजनबी {मृदुला गर्ग} नरमेध {गिरिराज किशोर} चारपाई {रामेश्वर सिंह} देवयानी का

कहना है (रमेश बक्षी) वामाचार, तीसरा हाथी (रमेश बक्षी) तिलचट्टा (मुद्राराक्षस) आदि में आधुनिक विसंगतियों को निर्ममता से उधेड़ती भाषा का प्रयोग हुआ है ।

मणि मधुकर, मुद्राराक्षस और रमेश बक्षी ने भाषा को एक भिन्न तेवर के रूप में अपनाया है , जो उसके नंगेपन को उजागर करता है । इनकी भाषा परम्पराओं के प्रति विद्रोही व्यक्ति की तीखी चुभन को गहराई से व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है । "रोना तो मुझे चाहिये ही । मेरे पति ने लड़ाई में जान दे दी और मैं उसके लिए रोऊँ तक नहीं ? तुम तम्बाकू पीते हो ? "[1]

"नोटिस आ गया, इसे आना ही था । उसने चिट्ठी लिखी है कि हमारे बीच का तार टूटगया है, संबंध मर गया है । अच्छा हुआ कि मर गया । लेकिन मारा है उसे उस हरामजादी ने ।"[2] आदि संवाद की भाषा टूटते-बिखरते दाम्पत्य जीवन को निसंकोच अभिव्यक्त करती है ।

"तो आप लोग मरिये, मैं भाग खड़ी होऊंगी । यह इसीदेश में होता है कि बाप छाती पर सवार रहता है । आप ही बताइये भइया । पति के लिए कोई पत्नी मर जाये तो उसे सती कहते हैं , वतन के लिए कोई मर जाये तो उसे शहीद कहते हैं , है कोई विशेषण जो बाप के लिए त्याग करने या घुट घुटकर मरने वाली संतान के लिए कहा जा सके ?"[3]

1- खेला पोलमपुर - मणि मधुकर - पृ0 15

2- वामाचार - रमेश बक्षी - पृ0- 41

3- तीसरा हाथी - रमेश बक्षी - पृ0- 28

"मैं वह रोशन नहीं हूं जिसे आप रोशनी कहते थे, मैं सबसे कहना चाहता हूं कि जो बाप कसाई हो उसका खून कर दिया जाये । §जाते-जाते§ नीच, नालायक, कुत्ते की औलाद § अपना हैट उतार कर टांग देता है§ बस भाग गये ना दुम दबाकर । सो गये ऊपर जाकर । कद दिया अपने सब बच्चों कोकैद अपने उल्लूपन की गिरफ्त में । मैं आपको अपना पिता समझता हूं पापा, लेकिन आप पर थूकता हूं ।--"[1] आदि संवाद अपने पिता की तानाशाही से घुटते हुयी सन्तान के आक्रोश को व्यक्त करते हैं । इसलिए इनकी भाषा अलंकारहीन, कड़क सी, तीखी- पैनी धार वाली है जो शुद्ध अभिधा अर्थ युक्त है ।

स्वतंत्रता के बाद "राजनीति चेतना" उत्तरोत्तर विकसित हुई है । सत्ता प्राप्ति की होड़ और स्वार्थान्धता ने राजनीति में भ्रष्टाचार को अत्यधिक बढ़ावा दिया है । समकालीन परिवेश में साधारण व्यक्ति भी इस भ्रष्ट राजनीति चोट में आकर त्रस्त व टूटा हुआ है । गत दो दशकों में राजनैतिक व्यंग्य बनाकर अनेकानेक नाटकों का सृजन हुआ है । इन नाटकों की भाषा व्यंग्यात्मक है जो गहराई से चोट करती है । प्रत्यक्ष रूप से इन नाटकों की भाषा हास्य उत्पन्न करती प्रतीत होती है लेकिन परोक्ष रूप में अंतसकरण में तिलमिलाहट आक्रोश तथा क्रुन्दन कर पाने की विवशता को उजागर करती है । "भस्मासुर" नाटक में नेता के संवाद भ्रष्ट राजनीति से खोखले हो रहे देश का वर्णन देखिये ------"सुख-दुख सब समान रूप में बांट दो । सुख हम दे नहीं सकते । दुख हम बांटरहे हैं । जो सुखी है सो धीमे-धीमे दु:खी होते जा रहे हैं -------।"[2]

और - समरू §व्यंग्य से§ लेकिन गरीबी को यहां से हटाकर

1- तीसरा हाथी - रमेश बक्षी - पृ0 42

2- भस्मासुर - रामकुमार भ्रमर - पृ0 41

कहाँ रखा जायेगा लक्खीशाह । उसके लिए भी तो कोई जगह चाहिये ।

लक्खीशाह - यह तुमने अक्ल की बात कही, समरू जाट । हम सोच रहे थे कि एक शिष्टमण्डल बनाकर उन पड़ौसी राज्यों में भेजें, जो अपनी गरीबी हटा चुके हैं । शिष्टमण्डल पता लगायेगा कि उन्होंने गरीबी को हटाने के बाद कहाँ रखा ?"[1]

आधुनिक नाटकों में फ्रायडवादी चिन्तन के आधार पर काम की प्रधानता मिलने पर भाषा की स्थिति में भी अन्तर आया है । सुरेन्द्र वर्मा "काम" वृत्ति के अनूठे नाटककार हैं । "सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण" में उन्होंने "सैक्स" की अनिवार्यता घोषित कर शीलवती व प्रतोष की कार्य व्यापारों का खुला चित्रण किया है किन्तु संस्कृत भाषा का आवरण पहनाये जाने के कारण उसमें इतनी अश्लीलता नहीं झलकती ,जितना बाजारूपन "द्रौपदी नाटक की भाषा में- "थ्योरी" प्रैक्टिकल, "यहाँ तक" "ब्लाउज़ के बटन" "वो चीज़" आदि में मिलता है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सन् 1950 के उपरान्त हिन्दी नाट्य भाषा निरन्तर प्रयोग की दिशा में अग्रसर हो रही है । इस काल की "भाषा रंगीय उपादानों से आ जुड़ी है । नाटककार,अर्ध-वाक्यों, मौन, रंग ध्वनि, रंग संकेतों तथा प्रतीकात्मक अभिनय द्वारा ही वह भाव व्यक्त कर सकता है जो लम्बे- लम्बे संवाद भी सफलता पूर्वक अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो पाते । इस प्रकार आधुनिक नाटककारों ने आत्मनिरपेक्ष न मानते हुए उसे दृश्य, अभिनय और

1- खेला पोलमपुर - मणि मधुकर - पृ0 61

अन्य रंग मंचीय उपादानों से अन्यान्य तादात्म्य स्थापित कर दिखाया । मणि मधुकर ने निरर्थक से प्रतीत होने वाले - गचर-गचर पचर-पचर, बकर-बकर, फदक-फदक, चीं-च्पड़, सब्बड़- सब्बड़ आदि शब्दों के माध्यम से आम व्यक्ति के भावों की सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति की है । समकालीन नाटक कार नाट्य भाषा को साहित्यिक न रख कर जीवन और मंच के समीप लाने का पक्षपाती है । मोहन राकेश जानने की भाषा के बजाय निरन्तन जीने की भाषा की ओर जाते हैं ।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक नाट्य भाषा आम आदमी से जुड़ी उसके भावों की अभिव्यक्ति कर नये आयामों को खोज रही है ।

संवाद :-

नाटक में "संवाद" अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व हैं । "संवादों" को आधारभूत बनाकर नाटक की कथावस्तु निर्मित और विकसित होती है । इन्हीं के द्वारा किसी भी पात्र का चरित्र और मनोभाव अनायास ही खुलता चला जाता है ।

भारतेन्दु युग में नाट्याचार्यों द्वारा वर्गीकृत सर्व-श्राव्य, नियत श्राव्य और अश्राव्य - इन तीनों प्रकार के संवादों का प्रयोग हुआ है । रोमान्टिक और पौराणिक नाटकों में गद्य-पद्य दोनों का प्रयाग हुआ है । जबकि सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में व्यंग्यपूर्ण संवादों का प्रयोग हुआ है । तत्कालीन युग की परिस्थितियाँ ही ऐसी थी कि

1- नटरंग [अंक 28] - लेख सत्येन्द्र तनेजा - पृ0- 42

कि साहित्यकार सीधे-सीधे ब्रिटिश शासकों पर आक्षेप नहीं कर सकता था । इसीलिए देश व काल की परिस्थितियों से विकसित "चेतना" के परिणामस्वरूप संवादों की भाषा बदल रही है थी । सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए व्यंग्यात्मक संवाद दृष्टव्य है - अशिक्षित पुरोहित गजबदन मकरूराम को वेद पढ़ाते हैं -

> मकरूराम - लाला एक ऋचा हमहू पठवे, देखई कैसन बा ।
> नैनितराम- अच्छी बात है पढ़िये ।
> गजबदन - {मकरूराम का हाथ पकड़कर} ऋचा स्वाहा, धन स्वाहा, कुल स्वाहा, विद्या विनय ढोल स्वाह,ढमार स्वाहा, पडित स्वाहा, जिजमान स्वाहा तथा सर्व स्वाहा, हरि भजे, वेश्या मनो जु जो डफाली सेवे गजी प्रपदमे स्वाहा । [1]

भारतेन्दु युगीन नाटकों के संवाद अधिकांशत: सरल, स्पष्ट और छोटे थे, किन्तु कहीं कहीं स्वगतोक्ति के रूप में दोषपूर्ण लम्बे संवादों का भी निस्संकोच प्रयोग किया जा रहा था । भारतेन्दु "संवादों" को महत्व उनकी भाव बोध गम्यता के आधार पर स्वीकार कर रहे थे । उनका कथन था -"परस्पर वार्ता में हृदय के भाव बोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं । किसी मनुष्य का स्थानादि के वर्णन में लम्बी चौड़ी काव्य रचना नाटक के उपयोगी नहीं ।"

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका हैकि इब्सेन के क्रान्तिकारी विचारों ने नाटकों में कृत्रिमता , अस्वाभाविकता व आडम्बर के विरूद्ध यथार्थवादी, सहजतापूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किये । जिसका अनुसरण अधिकांशत: पश्चिम के अधिकांश नाटककारों ने किया ।

1- उद्धृत - हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास - डा0 राम चरण महेन्द्र - पृ0-73

इब्सेन की इस विचारधारा से प्रभावित हो उपेन्द्र नाथ अश्क, लक्ष्मी नारायण मिश्र, भगवती चरण वर्मा आदि नाटककारों ने यथार्थवादी चिन्तन पर आधारित "समस्या नाटकों" का सृजन किया । इन नाटककारों ने "वैयक्तिक चेतना" की आधार भूमि पर रूढ़, कृत्रिमतापूर्ण, उबाऊ संवाद शैली को नकार कर, सहज स्वाभाविक ओजमय पूर्ण, सरल, साधारण बोलचाल की भाषा से युक्त संवाद शैली को अपनाया । उन्होंने कथोपकथन शैली पर आधारित अलंकृत चमत्कृत करने की प्रवृत्ति की आलोचना की । क्योंकि उस समय के नाटक विश्व युद्धों की भयानकता, त्रासदी और विसंगतियों से गुजर रहे थे । इसीलिए उस समय के नाटककार मन की व्यथा को व्यक्त करने वाले भावपूर्ण संवादों की नींव पर नाट्य महल तैयार कर रहे थे ।

जगदीश चन्द्र माथुर का "कोणार्क" और धर्मवीर भारती कृत अंधायुग {1959} नाटक रंगमंचीय सार्थकता के साथ साथ आधुनिक रंग बोध, शिल्प व संवादीय दृष्टि से स्वतंत्र पहचान बन गये । वास्तव में यहीं से हिन्दी नाटक अपनी वास्तविक यात्रा का संकेत देता हुआ सर्जनात्मक स्तर पर निरन्तर ऊपर उठने का प्रयास करने लगा । इन नाटकों के साथ कथ्य, शिल्प और भाषिक प्रयोग की एक नई धारा प्रवाहित हुई । गत दो दशकों में अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित तथा स्व अस्तित्व की खोज पर आधारित कथावस्तु को लेकर जिन नाटकों का सृजन हुआ, उन नाटकों के संवाद वैचारिक द्वंद्व लिए, अपेक्षाकृत लम्बे और दार्शनिक शैली में निबद्ध है - लहरों के राजहंस ,सूर्य मुख, रात रानी, तीसरा नेत्र आदि इसी प्रकार के नाटक हैं । और जो नाटक

राजनैतिक चेतना से ओतप्रोत हैं अथवा जिनमें भ्रष्ट राजनीति से तिलमिलाती जनता की वाणी को अभिव्यक्ति दी है उन नाटकों में तीखे, त्वरित, छोटे तथा नारे के समान लगने वाले संवादों को प्रयुक्त किया गया है । "कल आज और कल" तथा "रोशनी एक नदी है" नाटक तो यान्त्रिक संवादों पर ही आधारित है ।

तीन- "नैतिकता की पोल खुल गई ।
चार- सिद्धान्तों का जनाजा उठ गया ।
पाँच- ऐसे नहीं मिलेगी साली कुर्सी ।
एक - है कोई माई का लाल जो मुझे कुर्सी से उठा सके ?"[1]
और -

-स्वर्णकाल , सिंहासन का स्वर्ग काल । ....
स्वर्ण काल , दुखों का स्वर्ण काल
पोलमपुर में भ्रष्टाचार की वजह ?
राष्ट्रीय चरित्र में गिरावट ।[2]

इस प्रकार आलोच्यकालीन नाटकों में संवाद छोटे किन्तु तीक्ष्ण और नारे बाजी का सा रूप लिए दृष्टिगोचर हो रहे हैं । आधुनिक मानव इतना बौना होता जा रहा है कि किसी अन्य व्यक्ति के साथ तो क्या अपने परिवार के सदस्यों के साथ उसकी वार्तालाप , संवाद निरंतर सिकुड़ता जा रहा है । आज वह अपने आप में इतना संलग्न और समाज से इतना दूर होता जा रहा है कि मौन के अतिरिक्त

1- कल आज और कल - सुशील कुमार सिंह - पृ0- 27
2- खेला पोलमपुर - मणि मधुकर - पृ0 - 58

वह कुछ भी कह सकने में हकलाने सा लगा है अथवा सटीक शब्दावली के अभाव में उजूल-फिजूल वाक्य बोलने लगा है । जैसे "हानूश-(भीष्म साहनी) का -"मैं भी कितना पागल हूं । अपनी हैसियत को न आज तक समझा, न पहचाना । (रूक जाता है फिर धीमी आवाज में) चलिये साहब, मैं आपके साथ चलूंगा । मैं आपके पीछे पीछे वफादार कुत्ते की तरह आपके कदमों में लोटता हुआ चलूंगा । ------ क्योंकि मैंने एक दिन घड़ी बनाई थी ।" इसी प्रकार "रस-गन्धर्व" (मणि मधुकर) के संवाद शब्द जाल में घिरे दिखाई पड़ते हैं -"जागो राजा भोज, जागो गंगू तेली । खून चारों तरफ खून । काला खून, हरा खून, नीला खून, पीला खून । ---- साले का खून, चाबी-ताले का खून । दाल में काले का खून । कमली वाले का खून । इमली का खून । इमली वाले का खून । गोरे का खून , कांच-कटोरे का खून । बिन पानी का खून ।"[1] तिलचट्टा, मरजीवा,(मुद्राराक्षस) एक और अजनबी - बुढ़िया के संवाद तथा चारपाई में बूढ़े व बुढ़िया और स्त्री-पुरूष के संवाद सम्बन्धों की रिक्तता प्रेम शून्य तथा जड़ता को चित्रित करते हैं ।

अत: इस तथ्य की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संवाद व भाषा की दृष्टि से हिन्दी नाटक जागरूकता का परिचय दे रहा है । नाट्य शैली ने कथावस्तु व पात्रों की मन:स्थिति के अनुरूप स्वंय को ढाल कर नया कलेवर धारण कर लिया है । भाषा और संवाद का यह नया तेवर व्यक्ति की अनुभूति के बदलते स्तर को बखूबी उजागर कर रहा है । आम आदमी की जटिलताओं व मन:स्थितियों को अभि-व्यक्ति प्रदान कर रहा है ।

1- रस-गन्धर्व - मणि मधुकर - पृ0 नटरंग अंक - 24 - पृ0-11
सं0-नेमिचन्द्र जैन

इस प्रकार चतुर्थ अध्याय के समग्र विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आलोच्य कालीन हिन्दी नाटक कथ्य व शिल्प की दृष्टि से निरन्तर विकसित होता जा रहा है । विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग ने रंगमंचीय साज सज्जा दृश्य विधान को नये आयाम प्रदान किये हैं । ध्वनि संकेतों तथा रंग दीपन को नया रूप दिया है । परिक्रमा करने वाले तथा रहट की भाँति घूमने वाले रंगमंच अथवा प्रेक्षा गृहों ने प्रेक्षक व अभिनेता को समीप ला खड़ा किया है । साठोत्तर हिन्दी नाटक के न केवल रंगमंच अपितु कथावस्तु व शिल्प में भी अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हो रहे हैं । बंधी बंधाई लीक पर चल रही कथावस्तु अपनी परम्परा को त्याग साधारण व्यक्ति से जुड़ गयी । आज कथावस्तु में देवता, अलौकिक पात्र या उच्च वर्गीय पुरूष पात्र ही स्थान नहीं पा रहे अपितु निम्नवर्गीय ,पराजित, थका-टूटा व्यक्ति और नारी भी अपनी अभिव्यक्ति पा रहे हैं । -"आधे-अधूरे" का महेन्द्र, घरौंदा का "सुदीप", सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - का ओक्काक, "त्रिशंकु" नाटक का युवक, "लोटन" के पात्र किशोर,लोटन बाबू आदि तथा "कजरीबन" की अछूत युवती कजरी और "सुनो शेफाली" की हरिजन लड़की शेफाली आदि पात्र अपनी मन:स्थितियों ,जटिलताओं के साथ चित्रित हो रहे हैं।

आधुनिक परिवेश में नाट्य विधा अन्य अनेक रूढ़ियों से मुक्त हो रही है । मंगलाचरण व नान्दी ,अपने स्वरूप को त्याग चुके हैं । किन्तु कुछ नाटककारों ने लोक नाट्यों के आधार पर परम्परागत नाट्य शैली को अपनाया है । इसमें डा0 लक्ष्मीनारायण लाल -"तोता मैना" और "सगुन पंछी"मणि मधुकर- "खेला पोलमपुर",रस-गन्धर्व, ब्रजमोहन शाह - ﴾त्रिशंकु" आदि नाटककारों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

आधुनिक समाज में जहाँ व्यस्तता , यांत्रिकता तथा अजनबीपन व्याप्त होता जा रहा है । नाट्य विधा में कथ्य-शिल्प गत परिवर्तन आ रहे हैं तो नाटकीय संवाद व भाषा शैली इस परिवर्तन से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती है । यही कारण है कि साठोत्तरी नाटकों के संवाद लघु, तीक्ष्ण व व्यंग्यात्मक हो गये हैं । जिन पक्षों पर नाटकों के पात्र मौन रह जाते हैं आज इन पक्षों पर संवाद हो रहे हैं तर्क वितर्क हो रहे हैं । स्थितियों ,परिस्थितियों को उघाड़ा जा रहा है , गोपनीयता को उजागर किया जा रहा है ।इस दृष्टि में - रमेश बक्षी- (वामाचार), सुरेन्द्र वर्मा - (द्रौपदी), (सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक), मुद्राराक्षस -(तिलचट्टा), सुदर्शन चौपड़ा (अपनी पहचान) आदि नाटककार अपनी महत्वपूर्ण पहचान बनाये हुए हैं । नाट्य भाषा व संवाद को समाज व व्यक्ति ने तो प्रभावित किया ही है साथ ही राजनीतिक भ्रष्टाचार व आपाधापी ने भी अपना रंग छोड़ा है । इसलिए संवाद नारे बाजी से ,बिखरे-बिखरे व घुटे-घुटे से लग रहे हैं । आधुनिक व्यक्ति परिस्थितियों से बौखलाया सा है अत: उसके संवाद, टूट-फूटे , तर्कहीन, संदर्भहीन व अजीबोगरीब दृष्टिगोचर हो रहे हैं ।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन हिन्दी नाटक अपने परिवर्तित रूप के आधार पर वैयक्तिक चेतना" को मंचीय,संवादीय, कथावस्तु तथा शिल्पगत आधार पर अभिव्यक्ति दे रहा है । इस तीव्र होती "वैयक्तिक चेतना" तथा उससे प्रभावित वैयक्तिक व सामाजिक पक्षों का प्रमुख साठोत्तरी नाटकों के आधार पर विस्तृत विश्लेषण आगे के अध्यायों में किया जायेगा ।

-:::-